Research Paper E-ISSN NO : 2455-295X | VOLUME : 4 | ISSUE : 11 | NOVEMBER 2018

श्रीमद्भागवद् गीता में ''गुरूतत्त्व'' निरूपण

डॉ. श्याम लाल [1]

[1] सहायक आचार्य, चौ. बल्लूराम गोदारा राजकीय कन्या, महाविद्यालय, श्रीगंगानगर

ABSTRACT

KEYWORDS:

''कृष्णं वन्दे जगद्गुरूम्

भारतीय संस्कृति में 'गुरू' का स्थान सर्वोपरि है यह निर्विवाद रूप से कहा जा सकता है। शिष्यों द्वारा तो अपने गुरू को 'ब्रह्मा–विष्णु–महेश, और परम् ब्रह्म के रूप में स्वीकारने को यह सूक्ति प्रसिद्ध है–

''गुरूर्ब्रह्मा गुरूर्विष्णुः गुरूदंवो महेश्वरः।

गुरूः साक्षात् परं ब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः।।

भारतीय संस्कृति में ''गुरू–शिष्य परम्परा'' सनातन एवं शाश्वत हैं ब्रह्मा जी को इस सृष्टि का सृजक कहा गया है ठीक उसी तरह गुरू भी अपनी शिष्य रूपी सृष्टि में सद्गुणा तथा आध्यात्मिक ज्ञान के बीज बोकर एक सद्शिष्य का निर्माण करता हैं, भगवान् विष्णु इस संसार के पालनहार हैं, गुरू भी अपने शिष्य रूपी संसार को श्रेष्ठ मार्ग बताकर, सात्विक प्रवृत्तियों की ओर उन्मुख करते हुए उनका पालन–पोषण करता है, भगवान् महेश इस जगत् का संहार करने वाले कहे गय है तो गुरू भी अपने शिष्य रूपी जगत् में समस्त दुगुणों का पापों का, कलमश्ता का, अज्ञानता का और भौतिक मोह का नाश करते हुए मोक्ष प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करता है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने भारतवर्ष के कुरूक्षेत्र की युद्धभूमि में अर्जुन को माध्यम बनाकर सकल संसार को जो दिव्य उपदेश दिया वे एक अद्भुत व दिव्य गुरू के रूप में नजर आये न केवल श्रीकृष्ण गुरू के रूप में नजर आये बल्कि अर्जुन भी एक सद् शिष्य की भूमिका में दिखाई दिये। जब तक शिष्य के मन में ज्ञानार्जन की जिज्ञासा, अपने कल्याण की बलवती लालसा व स्वय के उद्धार का जनून न उत्पन्न हो तब तक वह ज्ञान प्राप्त करने का अधिकारी नही है, इसके अभाव में बाह्य आडम्बर का दिखावा कर किसी को गुरू मान लने से उद्धार नही होता और ना ही किसी गुरू के द्वारा शिष्य को योग्यता, लगन व अर्न्तमन से कल्याण की भावना को जांचे बिना उपदेश देना निरर्थक है,

उसमें शिष्य की पारमार्थिक उन्नति कदापि संभव नहीं है।

उक्त दोनों बातों पर दृष्टिपात किया जाये तो श्रीकृष्ण और अर्जुन दानों साथ–साथ रहते, खाते–पीते, – उठते–सोते थे। मगर श्रीकृष्ण भगवान् ने उनको गीता का उपदेश तभी दिया जब उनके हृदय में स्वकल्याण की भावना, आत्मोद्धार की लालसा, उत्पन्न हुई और वे बार–2 श्रीकृष्ण से अनुनय–विनय करने लगे कि जो मेरे लिए श्रेयस्कर हो वह मार्ग बतायें–

''यच्छयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे।।[1]

कौरवों के साथ युद्धभूमि में मोहग्रस्त अर्जुन में इस प्रकार की इच्छा जाग्रत होने के बाद ही अगले ही क्षण वे स्वयं को श्रीकृष्ण का शिष्य मान बैठते है और भगवान् के शरणागत होकर शिक्षा (उपदेश) देने के लिए प्रार्थना करते है।

''शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्''[2]

यही वह उचित समय है जब कोई शिष्य मन से किसी को गुरू मानता है, इस हेतु यह आवश्यक है कि स्वयं को गुरू के समर्पण कर दें, इससे पूर्व चिन्तन, मनन करें किन्तु गुरू के अधीन होने पर यह विश्वास रहे कि अब गुरू ही मेरी चिन्ता करेंगे। जिस प्रकार अर्जुन के मन में अपने कल्याण की जो इच्छा जाग्रत हुई और अपने को भगवान् का शिष्य मानकर उचित मार्गदशन हेतु प्रार्थना की है यह दर्शाता है कि अजु न ने पारम्परिक व्यवस्था को नकारते हुए बाहय आडम्बरों का अनुसरण नही किया है। दिखावे क लिए गुरू नही माना है। वहीं दूसरी ओर भगवान् श्रीकृष्ण ने भी शास्त्र परम्परा का अनुसरण करते हुए अर्जुन को कोई गुरूमन्त्र देकर शिष्य नही बनाया, अपितु शिष्य बनने की उत्कट लालसा व योग्यता पर ध्यान दिया है। अतः भगवद् गीता में यह द्रष्ट्व्य है कि पारमार्थिक उन्नति में गुरू–शिष्य का सम्बन्ध जोड़कर दिखावा करना आवश्यक नही है, अपितु अर्न्तभाव, विवेक, जिज्ञासा, तीव्र लालसा व आत्मबोध होना आवश्यक है। यदि श्रीमद्भागवद् गीता बाहय परम्पराओं को, पद्धति को, विधियों को, परिवर्तन को गुरू–शिष्य के संबंध को महत्व व आदरणीय स्थान देती तो कहना न होगा कि यह समस्त सम्प्रदायों के लिए उपयोगी, आदरणीय तथा प्रासंगिक नही होती। आज गीता को सभी सम्प्रदाय को मानने वाले लोग बड़े आदर व सम्मान से देखते है, पढ़ते है, सुनते है। क्योंकि यह किसी सम्प्रदाय विशेष की परम्पराओं व विधियों का वर्णन करती तो उसी के सम्प्रदाय में आदरणीय होती फिर यह समस्त सम्प्रदाय के लिए उपयोगी नही होती और ना ही प्रत्येक सम्प्रदाय के लोगो की इसे पढ़ने में कोई रूचि होती। गीता में वर्णित भगवान श्रीकृष्ण के मुखारविन्द से निस्सृत उपदेश न केवल अर्जुन के लिए बल्कि समस्त मानवजाति के कल्याण के लिए है न केवल उस युद्धस्थल हेतु बल्कि सार्वभौमिक है न केवल तात्कालिक अपितु आज भी प्रासंगिक है। गीता विश्वसंस्कृति की कुंजी है इसके प्रकाशक स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण है। यह समूची मानव जाति का धर्मग्रन्थ है। यह एक उपनिषद् है, ज्ञान का उज्ज्वल प्रदीप है, यही ब्रह्मविद्या है, योगशास्त्र है एंव आध्यात्मिक जीवन का दिव्य संदेश है। यही श्रीकृष्ण और अर्जुन (नारायण और नर) अर्थात् गुरू–शिष्य का संवाद हैं यह श्रीकृष्ण रूपी गुरू का दिव्य उपदेश अर्जुन रूपी शिष्य (मनुष्य जाति) को भगवान् का साक्षात्कार कराती है तथा जीवन में सरसता एंव सरलता प्रवाहित करती है। अर्जुन के व्यष्टि चैतन्य का परिच्छिन्न भवन तोड़ देन पर स्वयं श्रीकृष्ण ही सामने उपस्थित हा जाते है। समस्त जीवात्माओं के सामान्य केन्द्र भगवान् श्रीकृष्ण ही हैं। श्रीकृष्ण पृथिवी के लिए स्वर्ग का द्वार खोल देते है और बिना जाति, वर्ण, सम्प्रदाय, देश या स्त्री–पुरूष के भेद के जीवमात्र को अपने राज्य में प्रवेश करेन की अनुमति प्रदान करते है। गीता की सर्वतोमुखी शिक्षा, जीवन के प्रत्येक क्षेत्र से लोगों को उन्नति की ओर ले जाने वाले ज्योति है। श्रीकृष्ण जगद्गुरू है। वे विश्वात्मा है, दिव्य प्रेरणा तथा आध्यात्मिक प्रकाश के केन्द्र है।

श्रीकृष्ण ने अर्जुन के अज्ञानजनित मोह का नाश करके उसके संकुचित स्वजन–अभियान को दूर कर दिया। युद्धारम्भ जैसे अवसर पर अपने को भगवदीय न्याय की प्रतिष्ठा में निमित्त न मानना ही उनका अज्ञान था। श्रीकृष्ण अर्जुन के भय, शोक, अमर्ष, द्वेष, कामना आर राग आदि उन दोषों का हर लेते हैं, जो हिंसा के दुष्ट सहचर है।

इस प्रकार केवल भगवान् के आश्रित होकर, बिना किसी पुरस्कार की आशा के तथा उनके प्रति आत्समर्पण की भावना में स्थिर हुआ अर्जुन कर्म करता हुआ भी नहीं करता, मारता हुआ भी नहीं मारता, क्योंकि भगवान के उपदेश से उसकी क्रियाएं अब अहंकार के विषैल दंश से मुक्त हो गयी है। अहिंसा और अमरता गीता में साथ–2 चलती है। संसार में रहता हुआ प्रतीत होने पर भी उससे बिल्कुल निर्लिप्त रहना ही अमर जीवन है।

गुरू शिष्य का सम्बन्ध आत्मिक होता है। न कि शारिरीक। श्रीकृष्ण सक्षात् वह आत्मतत्व है, जो समस्त ज्ञान का केन्द्र एंव परिधि दोनों है। जगत् की लौकिकता के मोहक स्वरूप के परे दृष्टि डालना, अपने स्वरूप के, अपनी स्वाभाविक चरित्रगत विशेषताओं के, सहज प्रवृत्तियों के संबंध में विचार करना, नैसर्गिक प्रेरणाओं का तथा एकता एव सामञ्जस्य उत्पन्न करने वाले रचनात्मक गुणों का अध्ययन कर उन पर सार्वभौम दृष्टि से विचार करना और अपने अन्दर भगवत्तत्व को अभिव्यक्त करना सीखो। यही मानव जाति के प्रति श्रीकृष्ण का सनातन सन्देश है।

युद्धभूमि पर स्वजनों को अपने समक्ष देख अर्जुन के मन में अनेकानेक शंकाए उत्पन्न होती है, अनेक जिज्ञासाएँ उत्पन्न होती है उन सबको दूर करने हेतु श्रीकृष्ण को गुरू मानकर उनके शरणागत होते है तो भगवान् क्रमशः अर्जुन की एक–एक शंका का समाधान करते है बशर्ते किसी गुरू से अपनी शंका का समाधान चाहते है तो गुरू

के प्रति श्रद्धा होना नितान्त आवश्यक है। यदि श्रद्धा है तो अवश्य शंकाओं का समाधान होता जायेगा–यह मेरा दृढ़ विश्वास है। भगवान श्रीकृष्ण द्वारा अर्जुन को कितना दृढ़ आश्वासन दिया गया है–

''श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।

ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ।।[3]

ज्ञान परायण, जितेन्द्रिय पुरूष यदि श्रद्दावान् है तो अवश्य तत्वज्ञान को प्राप्त करता है। ज्ञान को प्राप्त करके वह शीघ्र ही परम शान्ति को भी पाता है।

तत्त्वातत्त्वदर्शी गुरू की कृपा से ही तो शिष्य तत्व को और अतत्त्व को देख पाता है, जान पाता है। अतः गुरू का स्थान इस संसार में सर्वोपरि है। गुरू से ही 'उपनयन' द्वारा मायाविषयक (संसारोपयोगी) ज्ञान प्राप्त होता है। कहा भी है– **'बिनु गुरू होइ कि ग्यान ।'**

उपनिषद् भी कहती है – **'समित्पाणिः श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठम्'**[4] इत्यदि। ज्ञानमार्गी साधक में **''मैं ब्रह्म हूँ''** ऐसा अभिमान रहने की अधिक संभावना रहती है, अतः इस ज्ञान प्रकरण में साधक को चेताने के लिए तत्त्वदर्शी गुरू की अत्यधिक आवश्यकता रहती है। यह प्रायः तभी रहती है जब शिष्य में तीव्र लालसा की कमी हो और सोचे कि गुरू उपदेश देंगे तभी ज्ञान होगा। इसी को लक्ष्य करके भगवान् श्रीकृष्ण भी अर्जुन को लोक–शिक्षार्थ उपदेश करते हुए कहते है कि–

''तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।

उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।[5]

अर्थात् ''हे अर्जुन! तू उस तत्त्वज्ञान को तत्त्वदर्शी ज्ञानी गुरूओं के समीप जाकर प्रणामपूर्वक युक्त प्रश्न द्वारा तथा उनकी सेवा करते हुए प्राप्त कर। इस पकार वे अवश्य तुझे तत्त्वज्ञान का उपदेश करेंगे।'' वस्तुतः गुरूकृपा से ही सब कुछ सुलभ है। प्रभु परमेश्वर की कृपा का आधाार भी गुरू–कृपा ही है। बिना गुरू की कृपा के परम प्रभु की कृपा नहीं होती और बिना प्रभु की कृपा तत्त्वज्ञान नहीं मिलता।

उपनिषद् का स्पष्ट प्रवचन है –

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य–

स्तस्यैष आत्माविवृणुते तनूँस्वाम् ।।[6]

अर्थात् यह परमात्मा जिस पर कृपा करता[6], वही इसे प्राप्त कर पाता है। उसी के लिये यह अपने यथार्थस्वरूप को प्रकाशित कर देता है।

गीता में श्रीकृष्ण और अर्जुन के गुरू–शिष्यत्व की विलक्षण बात यह रहो कि अर्जुन ने श्रद्धाभाव से श्रीकृष्ण को गुरू के रूप में स्वीकारा वहीं श्रीकृष्ण ने अर्जुन की उनके प्रतिश्रद्धा व तीव्र लालसा को देखते हुए उन्हें कल्याणकारी उपदेश दिया। शिष्य के द्वारा गुरू को गुरूरूप में मानने से ही कल्याण होता है। अतः गीता अपने आप से ही अपने आपका उद्धार करने की प्ररेणा देती है–

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।

आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।[7]

गीता के ज्ञानमार्ग में तो आचार्य आदि की उपासना[8] पर बल दिया गया है, किन्तु कर्मयोग और भक्तिमार्ग में गुरू आदि की आवश्यकता नही बतायी गई। इसका कारण यह है कि जब किसी घटना, परिस्थिति आदि से ऐसी भावना जाग्रत हो जाती है कि 'स्वार्थभाव से कर्म करने पर अभाव की पूर्ति नही होती, स्वार्थभाव रखना पशुता है, मानवता नही है, तब मनुष्य स्वार्थभाव का, कामना का त्याग करके सेवा परायण हो जाता है सेवापरायण होने से उस कर्मयोगो को स्वतः ही तत्त्वज्ञान हो जाता है–

''तत्स्त्यं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।''[9]

भगवान् की यह एक विलक्षण उदारता एवं दयालुता ही है कि जो उनको नही मानता, अर्थात् नास्तिक प्रवृत्ति का है, उसके भीतर यदि तत्व को, अपने स्वरूप को जानने की तीव्र जिज्ञासा हो जाये तो उस नास्तिक को भी भगवत्कृपा से ज्ञान प्राप्ति हो जाती है।

कहना न होगा कि अन्ततः भगवान ही सबके गुरू है, जिस व्यक्ति, शास्त्रादि से ज्ञान प्रकट होता है वह गुरू कहलाता है। परन्तु मूल में भगवान ही सबके गुरू है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता म कहा है कि मैं ही सब प्रकार से देवताओं और महर्षियों का आदि अर्थात् उनका उत्पादक, संरक्षक, शिक्षक हूँ–

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।

–अहमादिर्हि देवानां महर्षीणां च सर्वशः।।[10]

अर्जुन ने भी विराट रूप भगवान की स्तुति करते हुए कहा है कि हे महात्मा! आप ब्रह्मा से भी बढ़कर है, आप आदि स्रष्टा है तो वे श्रेष्ठतर लोग आपको नमस्कार क्यों न करें? आप परम् स्रोत, अक्षर, कारणों के कारण तथा इस भौतिक जगत् से परे है।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन्

गरीयसे ब्रह्माणोऽप्यादिकर्त्रे।

अनन्त देवेश जगन्निवास

त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।।[11]

आगे अर्जुन उन्हें परम पूज्य महान आध्यात्मिक गुरू के रूप में स्वीकारते हुए कहते है कि आपके तुल्य न तो कोई है, न ही आपके समान हो सकता है। तीनों लोको में आपसे बढ़कर कोई नही है–

पितासि लोकस्य चराचरस्य

त्वमस्य पूज्यश्च गुरूर्गरीयान।

न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो

लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।।[12]

सारांश यह है कि इस संसार में गीता जैसा पावन ग्रन्थ विद्यमान है यदि कोई इस भौतिक संसार से दुःखी है, या उसके मन में किसी प्रकार की शंकाएं उठती है तो निश्चिन्त होकर धैर्यपूर्वक श्रद्धासमन्वित होकर श्रीमद्भागवद् गीता में भगवान् श्रीकृष्ण की वाणी को मन्त्र मानकर, गुरू का उपदेश समझते हुए अपनी शंकाओं का समाधान प्राप्त करने की उत्कट लालसा रखें। समाधान अवश्य प्राप्त होगा, शीघ्र ही होगा। जगद्गुरू भगवान् श्रीकृष्ण साधक के कल्याण हेतु सदैव सर्वत्र विद्यमान रहते है। गीता में भगवान् ने कहा है कि जो लोग अनन्यभाव से मेरे दिव्य स्वरूप को ध्यान करते हुए निरन्तर मेरी पूजा करते है, उनकी जो आवश्यकताएं होती है, उन्हें मैं पूरा करता हूँ और जो कुछ उनके पास है, उसकी रक्षा करता हूँ।[13]

अतः जो साधक परमश्रद्धा के साथ 'गीता' का अध्ययन, मनन, चिन्तन करता है, अनुभव करता है तो फिर उसक लिए इस संसार में कुछ भी जानना शेष नही रह जाता।

REFERENCES

1. श्रीमद्भागवद् गीता द्वितीय अध्याय–श्लोक सं. 7
2. वहीं
3. श्रीमद्भागवद् गीता चतुर्थ अध्याय – श्लोक सं. 39
4. मुण्डकोपनिषद – 1–2 – 12
5. श्रीमद्भागवद गीता – चतुर्थ अध्याय – श्लोक सं. 34
6. कठोपनिषद् – 1–2–13
7. श्रीमद्भागवद् गीता – षष्ठम अध्याय – श्लोक सं. 5
8. आचार्योपासनं .... (श्रीमद्भागवद् गीता – त्रयोदश अध्याय) श्लोक सं. 8
9. श्रीमद्भागवद्गीता (अध्याय – चतुर्थ – श्लोक सं. 38)
10. श्रीमद्भागवद्गीता (अध्याय – दस – श्लोक सं. 02)
11. श्रीमद्भागवद्गीता (अध्याय – एकादश – श्लोक सं. 37)
12. श्रीमद्भागवद्गीता (अध्याय – एकादश – श्लोक सं. 43)
13. श्रीमद्भागवद्गीता (अध्याय – नवम् – श्लोक सं. 22)

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते ।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।